हिन्दी पब्लिक स्फ़ियर

हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया

फ़्रंचेस्का ओरसीनी

जब *सरस्वती* के संपादक देवीदत्त शुक्ल (1888-1970) दफ़्तर जाने के लिए मिर्ज़ई-लुंगी उतारकर धोती-कुरता पहनते, जब साहित्यिक सभाओं में हिन्दी साहित्यकार गपशप छोड़कर शुद्ध हिन्दी में भाषण देने लगते, जब मैथिलीशरण गुप्त (1889-1964) वैदिक कालीन भारतवासियों को 'हमारे पूर्वजों' के नाम से पुकारते, और जब हर विषय और हर कार्य के सामने 'जातीय' या 'राष्ट्रीय' विशेषण जोड़ा जाता — जातीय साहित्य, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय शिक्षा, जातीय इतिहास — तब एक ही प्रक्रिया के अलग-अलग पहलू नज़र आते हैं।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में युरोपीय विचार तथा सार्वजनिक जीवन से प्रेरित होकर कई शिक्षित हिन्दुस्तानियों ने कुछ उसी ढंग की भाषा, रहन-सहन और समाज की कल्पना करना शुरु किया था, जिसके माध्यम से वे अपने नए आदर्श — एकता, उन्नति, स्वर्णिम अतीत तथा उज्ज्वल भविष्य के आदर्श — सबके सामने व्यक्त करने लगे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते, और ख़ासकर 1857 के बाद, उत्तर भारत के शहर और क़स्बों में जगह-जगह सभा-समितियाँ, पत्र-पत्रिकाएँ तथा स्कूल-कॉलेज स्थापित होने लगे। उन सबकी एक विशेषता अनोखी ही कही जाएगी — कम से कम सिद्धांततः वहाँ सबको आने और भाग लेने की अनुमति थी, इस शर्त पर कि सब शिष्टाचार के पाबन्द रहें। मगर कैसा शिष्टाचार? पुराने शिष्टाचार से उसका क्या और कैसा फ़र्क़ था? और ऐसी सार्वजनिक संस्थाओं का 'सर्वजन' कौन था? तब और अब के बीच कोई रिश्ता है?

आज के हिन्दी जगत में कई ऐसी बातें हैं जो उस सुदूर अतीत से जुड़ी नज़र आती हैं। जैसे, 1990 के दशक तक हिन्दी में एक भी दलित लेखक क्यों नहीं हुआ था? आजकल हिन्दी साहित्यिक संस्थाएँ प्रायः सवर्णों के हाथों क्यों हैं? हिन्दी आलोचना में अब तक रामचन्द्र शुक्ल का इतना बोलबाला क्यों है, वग़ैरह। ये सारे सवाल एक-दूसरे से क्यों जुड़े हैं, यह भी समझने के लिए हमको पीछे मुड़कर 1920 के आसपास की विकसित होती हुई सार्वजनिक दुनिया की छान-बीन करनी पड़ेगी। 'सार्वजनिक दुनिया' यहाँ 'पब्लिक स्फ़ियर' का बेढब अनुवाद है, इसके लिए हिन्दी के विद्वान मुझे माफ़ करें। इससे मेरा मतलब 'सराय' का 'पब्लिक डोमेन' उतना नहीं है जितना युर्गन हाबरमास की परिभाषा में वे सारी गतिविधियाँ, पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्यिक संस्थाएँ तथा अन्य सार्वजनिक सभाएँ हैं जहां लोग ऐसे मामलों पर वाद-विवाद करते थे, जिनका संबंध निजी सरोकारों से नहीं, सर्वसाधारण से है। पब्लिक स्फ़ियर सरकार, बाज़ार (अर्थ-व्यवस्था) तथा घर-परिवार के बीच का वह क्षेत्र है जहाँ लोग वाद-विवाद ही नहीं, योजनाएं बनाकर उन पर अमल भी करते हैं। यहाँ मेरा सरोकार केवल हिन्दी की दुनिया से ही है, यानी उस दुनिया से जहाँ हिन्दी का प्रयोग संपर्क भाषा के रूप में ही नहीं, जाति और राष्ट्र के प्रतीक के रूप में भी होने लगा था।

अपने ढेर सारे समकालीनों की तरह, देवीदत्त शुक्ल ने इस दुनिया में स्कूल तथा समाचारपत्रों द्वारा प्रवेश पाया था। छठी कक्षा और सोलह साल की उम्र में वे अपने मामा के यहां कलकत्ते से छपने वाले साप्ताहिक *भारतमित्र* के

संपर्क में आ गए थे। थोड़े ही दिन के बाद उनकी मित्र-मंडली को भी अख़बार पढ़ने का चस्का लग गया। आपस में बंग-भंग की चर्चा करने लगे। शुक्ल जी ख़ुद आगे चलकर इंडियन प्रेस में नौकरी करके इस दुनिया का हिस्सा बन गए तथा उन्होंने इसमें बड़ा नाम भी कमाया। लेकिन हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया कहने से मेरा अभिप्राय कुछ और भी है। उत्तर भारत की विकसित हो रही सार्वजनिक दुनिया में भाषा की क्या भूमिका थी, सार्वजनिक दुनिया को भाषा के आधार पर विभाजित करना मुनासिब है, ये सवाल पब्लिक स्फ़ियर को समझने के लिए बहुत ज़रूरी हैं। मिसाल के तौर पर समाचारपत्रों को ही ले लें। अपनी आत्मकथा में जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था कि जो ऐंग्लो-इंडियन अख़बार अंग्रेज़ों के हाथ में थे, उनमें बड़े-बड़े अधिकारियों की ख़बरें भरी हुई रहती थीं। बड़े शहरों तथा हिल स्टेशन में अंग्रेज़ लोगों की पार्टियाँ, फ़ैंसी-ड्रेस बॉल, नाटक मंडलियाँ, इन सबकी चर्चा बहुत विस्तार से छपती थी।[1]

हिन्दुस्तानी मालिकों के अख़बार उनसे अलग थे मगर उनमें भी भाषा के आधार पर कुछ रोचक अंतर दिखाई देते हैं। 2 जनवरी 1924 के इलाहाबाद के दैनिक *लीडर* को देखें, जिनके संपादक उदारपंथी नेता वाई सी चिन्तामणि थे, तो उसकी मुख्य ख़बरें थीं अधिकारियों का तबादला, राष्ट्रीय राजनीतिक सम्मेलनों के संवाद, सरकारी क़ानून और बाज़ार की ख़बरें। संपादकीय संसद की विशुद्ध भाषा में लिखा हुआ था, जबकि स्थानीय समाचार 'मुफ़स्सल' के स्तंभ के अंतर्गत थे। विज्ञापन को देखने से पता चलता है कि वे ऐसे पाठकों को लुभाने की कोशिश कर रहे थे जिनके पास बैंक बैलेंस होगा; अंग्रेज़ी कोर्स के विज्ञापन को देखने से यह अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि इस अख़बार के पाठक समाज में तरक़्क़ी करना चाहते थे। *लीडर* के रूबरू अगर उसी दिन के हिन्दी दैनिक *वर्तमान* को रखें, जो रमाशंकर अवस्थी के संपादन में कानपुर से छपता था, तो पहले ही पन्ने से बड़ा स्पष्ट अंतर दिखाई देता है: 'चीन में बॉलशेविकों की सरकार', 'जज पर रंडियों ने जादू किया', यानी बड़े-बड़े अक्षरों में सनसनीख़ेज़ ख़बरें। अंदर के पन्नों पर अंतर्राष्ट्रीय मज़दूरों के आंदोलन से लेकर कानपुर की साम्यवादी पार्टी की गतिविधि तथा सांप्रदायिक दंगे तक, सारे लेख कानपुर के कारख़ानों के मज़दूरों को लक्षित करके थे। एक स्तर पर इसका जवाब आसान है — उच्च और मध्यवर्ग की भाषा अंग्रेज़ी थी, जनता की भाषा हिंदी। लेकिन जवाब फिर भी इतना आसान नहीं, क्योंकि उसी दौर में हिन्दी ने संपूर्ण समाज की भाषा होने का दावा किया था। तो फिर?

1857 के बाद

पुरुषोत्तम अग्रवाल और वसुधा डालमिया[2] हमको दिखा चुके हैं कि 1857 के बाद के दौर में उत्तर भारत के शहरों में हिन्दी को लेकर एक नई चेतना उभरने लगी थी जिसने कुछ ही सालों में अच्छे-ख़ासे आन्दोलन का रूप ले लिया था। उसके अगुआ थे अग्रवाल-खत्री सेठ-व्यापारी, छोटे ज़मींदार, बड़े किसान, पटवारी, क़ानूनगो और पण्डित जिनके बच्चे स्कूलों, अदालतों, सरकारी विभागों और फ़ौज में नौकरी करने लगे थे। इन्हीं वर्गों से एक ऐसा हिन्दी मध्यवर्ग उपजने लगा, जो अक्सर उच्च जाति का था मगर आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर था। उसको एलीट (विशिष्ट वर्ग) कहना कुछ ही मायनों में सही होगा। इन्हीं वर्गों के हाथ में हिन्दी, साहित्य-सुधार तथा जातीय धर्म के सवाल मूर्त रूप लेने लगे। चाहे सवाल पुरानी पण्डुलिपियों की खोज का रहा हो या सरकारी स्कूलों में हिन्दी के माध्यम से शिक्षा, अदालतों में देवनागरी का प्रयोग या आधुनिक हिन्दी शब्दकोश को तैयार करने का — इन सब मामलों में इनके द्वारा स्थापित हिन्दी संस्थाएँ सक्रिय तथा काफ़ी हद तक सफल होने लगीं।

जो अंतर 1880 और 1920 की हिन्दी दुनिया के बीच नज़र आता है वह अनुमाप का है। हिन्दी शिक्षा का विस्तार, अख़बार-पत्रिकाओं का प्रसार, गाँधी के व्यापक जनान्दोलन, जिसमें औरतें और किसान भी बड़े पैमाने पर हिस्सा लेने लगे थे — इन सब कारणों से 1920 के बाद की हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया सचमुच बहुत बड़ी हो गई। एक मायने में हिन्दी का यह दावा सही होने लगा कि वह 'असली जनता' की भाषा है, जबकि अंग्रेज़ी 'कृत्रिम समाज' की और उर्दू पतनोन्मुख वर्गों की। मगर उसी दौरान इस विस्तृत हिन्दी दुनिया के अंदर नई आवाज़ों के उठने के साथ-साथ मतभेद भी बढ़ने लगा। उसमें कुछ ऐसे लोग थे जो चाहते थे कि हिन्दी 19वीं सदी की हिन्दी-हिन्दू

वेदना
सोने का संसार
उच्छ्वास

उन्नति वाली परिपाटी पर ही चलती रहे, जो उर्दू-विरोध के दौर में उपजी थी। मगर बहुत ऐसे भी लोग थे जो मानते थे कि हिन्दी राष्ट्रभाषा, स्वराज और सामाजिक क्रान्ति एक ही लक्ष्य के अलग-अलग पहलू हैं। 'पब्लिक' और 'पब्लिक स्फ़ियर' को लेकर इन दोनों का नज़रिया भी काफ़ी हद तक एक दूसरे का उल्टा था — पहले वाले के नज़रिये को मैंने 'एकमतपसंद' का नाम दिया है, दूसरे को 'बहुमतपसंद' कहा है। इसके निहितार्थों में विस्तार से जाने की इजाज़त चाहूंगी।

हिन्दी की विविधता-भरी दुनिया की वजह से हिन्दी तथा हिन्दी साहित्य के विकास के लिए 1920 और 1930 के दशक अत्यंत रोचक और निर्णायक साबित हुए। आख़िर इन्हीं दशकों में प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, निराला, प्रसाद और महादेवी जैसे मौलिक साहित्यकार और चिंतक प्रकट हुए — एक दूसरे से इतने क़रीब होते हुए भी कितने भिन्न। और इन्हीं दशकों में अवध का किसान आन्दोलन तथा बिहार की किसान सभा जैसे संघर्ष हुए जिनका हिन्दी की दुनिया पर गहरा प्रभाव अंकित हो चुका है।[3] ऐसी विविधता, विस्तार और आपसी मतभेद के बावजूद हिन्दी का संस्कार इतना रूढ़िवादी क्यों बना, यह सवाल पूछने लायक़ है।

मेरे ख़याल से इसका जवाब हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया के ढाँचे और उसमें क्रियाशील तथा सफल शक्तियों में खोजना पड़ेगा। तीसरे और चौथे दशक की हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में दो प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती हुई दिखती हैं — एक तरफ़ हिन्दी की दुनिया का व्यापक हो जाना, दूसरी तरफ़ सरकारी तथा ग़ैरसरकारी व्यवस्था में शुद्ध हिन्दी का घर बनाना। मेरा मानना है कि हिन्दी की दुनिया में एकमतपसंद शक्तियाँ अंततः प्रबल रहीं — चाहे पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्यिक संस्थाएँ, यहाँ तक कि काँग्रेस ही को क्यों न लें। वहां सबने एक ऐसी हिन्दी को अपना लिया जो शुद्ध तो थी मगर न तो देसी थी न ही हिन्दी दुनिया की विविधता प्रकट करनेवाली। ऐसी शुद्ध हिन्दी के संस्कार की जीत में उस बहुमतपसंद नज़रिये की हार भी हुई। इस लेख के दूसरे हिस्से में औरतों और किसानों के प्रवेश के सवाल को उठाकर हम यह भी पूछेंगे कि क्या वह हार सचमुच की हार हुई?

एकमतपसंद और बहुमतपसंद

हाबरमास की 'पब्लिक स्फ़ियर' की परिभाषा के अनुसार समाचारपत्र तथा सभा-समितियों में आवाज़ उठाने वाले लोगों को लाज़िम है कि वे अपनी बात रखते समय तर्क-वितर्क का प्रयोग करें। क्योंकि बहस-मुबाहसे में अपनी राय सिद्ध करके, उसको दूसरों के खंडन-मंडन से बचाने तथा विपक्ष को हराने के लिए इतना कहना काफ़ी नहीं होता कि 'परंपरा के अनुसार ऐसा होता चला आया है'। अपनी बात को तर्कसंगत दिखाकर दूसरों की दलीलों को कमज़ोर दिखाना ज़रूरी हो जाता है। लिहाज़ा पब्लिक स्फ़ियर की इस परिभाषा में विवाद या बहस की अहम भूमिका रहती है — वाद-विवाद के दौरान हर मौक़े पर अपनी बात को तर्क-वितर्क के सहारे पेश करना पड़ता है। दूसरों को सुनकर जवाब देना पड़ता है। इससे सभी को अहसास होने लगता है कि चाहे किसी विषय पर अपना ही नज़रिया सही क्यों न लगे, और नज़रिये भी होते हैं, संभव होते हैं। नज़रिये, विश्वास, नियम कुछ हद तक नम्र, लचीले और सशंक मालूम होने लगते हैं।

पर कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिनको यह बात मंजूर नहीं होती हैः इनको मैंने एकमतपसंद कहा है। हिन्दी की दुनिया में ऐसे कई लोग मिलते हैं, मसलन, मदन मोहन मालवीय (1861-1946)। ज़रा इनके 'विवाद' संबंधी विचार को देखें। अपने 1907 के लेख 'भारतवासी और देशभक्ति' में वे सरकार को यह समझाने की कोशिश कर रहे हैं कि सुशासन के लिए प्रजा को विवाद का अधिकार मिलना आवश्यक है। यहाँ प्रजातंत्र से मालवीय जी का मतलब लोकतंत्र नहीं बल्कि एक ऐसे राज्य से है जहाँ की प्रजा राजा के सामने अपनी राय व्यक्त कर सकती है। 'यह सब ख़राबियां उस समय दूर हो जाती हैं जब प्रजा को स्वयं ही उन विषयों पर विचार और विवाद करने का समय दिया जाय।... राजा को प्रजा की असली दशा मालूम हो जावेगी और फिर राज्य के संपूर्ण कार्य न्यायसंगत होंगे।' सरकार से उनकी इतनी ही माँग थी। 'भारतवर्ष, जो आज-कल स्वराज्य के लिए पुकार रहा है, उसका यही मन्तव्य है। स्वराज्य से उसका मतलब यह है कि हमको अपने राज्य-कार्यों पर विचार करने का अधिकार मिले।'[4] यहाँ तक विवाद ठीक है, ज़रूरी भी है। मालवीय जी किसी अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ का हवाला देते हुए हिन्दी में उसके मंतव्य का हूबहू अनुवाद कर देते हैं:

> वाद-विवाद में मुख्य-मुख्य शक्तियाँ (incentives) हैं जो कि उन्नति के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। वाद-विवाद से बुद्धि तीव्र होती है। किसी राजनैतिक कार्य का निश्चय करने के लिए उस पर भली-भाँति अपने बुद्धि-बल के द्वारा बहस करना बुद्धि से बड़ा भारी अभ्यास करना है जो कि उसे बढ़ायेगा। वाद-विवाद द्वारा शासन करना मनुष्य जाति की उन्नति करने के मुख्य उपाय हैं। (*वही*, पृ. 106)

वाद-विवाद की इतनी तारीफ़ करने के बाद लेकिन उनको यह बात सूझती है कि "परंतु वाद-विवाद करना अत्यंत नाजुक विषय है। जिस प्रकार कि उसको रीति के अनुसार करने से महान् लाभ है, *उसी प्रकार इसमें तनिक भी ख़राबी आने से बड़ी-बड़ी हानियां पहुँच सकती हैं*"। (*वही*, ज़ोर हमारा।) "वाद-विवाद वालों को सहिष्णु होना चाहिए तथा उनको 'शक्तियुक्त शांति' का प्रदर्शन करना चाहिए।" बाद में मालवीय जी ये भी लिखते हैं कि "जापान की उन्नति का कारण भी समस्त जापानियों का एकमत होना ही है" (*वही*, पृ. 109)। इतने ऊँचे आदर्श, इतनी भारी शर्त रखने का परिणाम वाद-विवाद के मूल्य को ही नकारना होगा। वाद-विवाद सिर्फ़ राज सरकार के साथ ही ठीक रहता है, जब वह भारतीय समाज के अंदर होता है तो "बड़ी-बड़ी हानियाँ पहुँच सकती हैं"। एकमतपसंद से मेरा यही मतलब है: एक ऐसे नज़रिये से जो पब्लिक स्फ़ियर में एक ही मत, एक ही विधान को स्वीकार करने को तैयार है — चाहे सवाल राजभाषा का हो या जातीय संस्कृति का, भारतीय नारी या राष्ट्रीय आन्दोलन का। इस दृष्टिकोण से 'पब्लिक' के लिए अक्सर 'जाति' प्रयोग में आया करता है। 1921 में, 10वें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर, सम्मेलन के कर्त्ता-धर्त्ता पुरुषोत्तमदास टंडन के शब्दों में:

> हमको आगे जो स्वराज्य मिलेगा, उसकी भाषा हिन्दी ही होनी चाहिये, न कि अंग्रेज़ी। हमारा स्वराज्य Democracy के सिद्धान्तों के आधार पर न होगा, वरन् हमारे स्वराज्य में हमारी पुरानी सभ्यता, भाषा तथा अन्य राष्ट्रीय अंगों की रक्षा होगी। यह बात सिद्ध ही है।[5]

पब्लिक स्फ़ियर को लेकर दूसरा नज़रिया, जो कि हाबरमास की परिकल्पना के ज़्यादा क़रीब है, कुछ इस तरह था: चाहे हिन्दू समाज, अंग्रेज़ी राज्य, वर्ण-व्यवस्था या हिन्दी साहित्य की बात क्यों न हो, जो स्थिति अब तक चली आई है वह किसी-न-किसी तरीक़े से बेजा है, प्रतिकूल है, इस देश-काल के लिए अनुचित, अप्रासंगिक या असंगत हो चुकी है। और हमें किसी न किसी तरह बदलना पड़ेगा। अख़बारों में आलोचना करके, जनसाधारण की आवाज़ को सुनकर-सुनाकर अपनी-अपनी ज़िंदगी में भी ज़रूरी परिवर्तन लाने होंगे। इस व्यापक परिवर्तन को लाने के लिए यह भी ज़रूरी समझा जाने लगा कि राजनीति की बात शिक्षित मध्यवर्ग की सीमित परिधि को छोड़कर जनसाधारण तक, उसकी अपनी ज़बान में, पहुँचाई जाए। *प्रताप* के संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी के शब्दों में:

> अब समय आ गया है कि हमारे राजनैतिक विचार और आन्दोलन अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमाबद्ध न रहें, किन्तु सामान्य जनता में भी फैलें और भारतीय लोकमत इने-गिने पढ़े-लिखे लोगों का मत नहीं, किन्तु देश के सब वर्गों के विचारों का प्रतिबिम्ब हो। जब हम स्वराज्य के लिए आन्दोलन कर रहे हैं तब हमें एक प्रख्यात राजनीतिशास्त्र-विशारद के इस सिद्धान्त को न भूलना चाहिए कि प्रजा सत्तात्मक शासन वास्तव में लोकमत का शासन है। विस्तृत सुविज्ञ लोकमत की सृष्टि का बड़ा भारी साधन यह है कि हमारे राजनैतिक वार्तालाप और विवाद में अंग्रेज़ी के साथ-साथ देशी भाषाओं का भी प्रयोग हो।[6]

हिन्दी दुनिया की संस्थाएँ

हाबरमास की एक ख़ूबी यह है कि वे केवल 'डिस्कोर्स' का अध्ययन नहीं करते बल्कि उन सब जगहों की तरफ़ इशारा भी करते हैं जहाँ संस्कार, विचार-विमर्श तथा सार्वजनिक मिलना-जुलना हुआ करता है। जगहों से मेरा

मतलब ठोस और वैचारिक दोनों क़िस्म की जगहों से है — शिक्षा की मिसाल लें, तो ठोस जगह का मतलब यानी स्कूल, उनकी इमारतें, कक्षाघर, अहाते, और वैचारिक जगह की बात करें तो पाठ्यपुस्तकें तथा शिक्षा संबंधी वाद-विवाद, जो पत्र-पत्रिकाओं में हुआ करते थे। हिन्दी पब्लिक स्फ़ियर की जगहों से मेरा मतलब मूलतः पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्यिक सभा-सम्मेलन तथा शिक्षा रहा है। कुछ हद तक मैंने काँग्रेस तथा आम लोगों की राजनीति का भी अध्ययन किया है, ख़ासकर किसान आन्दोलन के संदर्भ में। यहाँ मेरा सरोकार इन सब 'जगहों' की एकमतपसंद या बहुमतपसंद भूमिका तक ही सीमित होगा।

वैसे हाबरमास के दृष्टिकोण से देखा जाए तो सिद्धान्त के तौर पर अख़बार अपने में हमेशा बहुमतपसंद ही होने चाहिए — एक तो इसलिए कि हरेक अख़बार में अलग-अलग, कई बार अंतर्विरोधी, मतों को जगह मिलती है। दूसरी बात यह कि निरी ख़बरों को पढ़ने से पाठक की आलोचनात्मक वृत्ति विकसित होती है। अलबत्ता 20वीं सदी की शुरुआत की सबसे महत्त्वपूर्ण हिन्दी पत्रिका, महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938) द्वारा संपादित *सरस्वती* काफ़ी हद तक एकमतपसंद ही कही जाएगी। द्विवेदीजी के सामने लक्ष्य था हिन्दी समाज और उसकी भाषा, रुचि, और संस्कार को सुधारने का। उनकी संपादकीय क़लम के निरन्तर प्रयत्नों से हिन्दी का एक मानक रूप स्थापित तो हुआ। पर बात भाषा तक ही सीमित न रही। ब्रज की प्रचलित काव्यभाषा, विषय-वस्तु तथा सौन्दर्यबोध का बहिष्कार करके द्विवेदी जी ने कवियों को प्रकृति, ऐतिहासिक या समसामयिक विषयों पर लिखने को प्रेरित किया। अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए उन्होंने *सरस्वती* में उन्हीं रचनाओं को जगह दी जो उनकी रूचि-मान्यताओं के अनुसार थीं। यानी द्विवेदी जी ने पत्रिका का प्रयोग हिन्दी पब्लिक स्फ़ियर यानी हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में नए और शुद्ध संस्कार को फैलाने के लिए किया। इनके संपादक की भूमिका कुछ-कुछ सरपंच जैसी हो गई। 1920 में उनके *सरस्वती* को छोड़ने के बाद कई लोगों ने अफ़सोस प्रकट किया कि अब हिन्दी में निरंकुशता को रोकने वाला कोई नहीं रहा। इसमें कोई शक नहीं कि राजनीति और धर्म के ख़ुद के लगाए प्रतिबंध के बावजूद द्विवेदीजी ने प्रतिबद्ध नागरिकता की रूपरेखा तैयार करके हिन्दी सभ्य समाज के लिए महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका निभाई। हर एक सरकारी रिपोर्ट पर टीका-टिप्पणी करके इन्होंने हिन्दी पाठकवर्ग का ध्यान, जो कि मध्य वर्ग बनने की प्रक्रिया में था, लोकमत के कर्तव्य और अधिकार की ओर आकर्षित किया। फिर भी *सरस्वती* की भूमिका हिन्दी भाषी संसार में एकमतपसन्द ही कही जानी चाहिए।

तीसरे दशक की सबसे सफल हिन्दी पत्रिका *माधुरी* (1922) से *सरस्वती* की तुलना करें तो यह प्रकट हो जाएगा कि विचारों तथा रुचियों की उदारता से ही कितना अंतर पड़ सकता है। *सरस्वती* से प्रेरित और गेटप तथा आकाँक्षा में उससे मिलती-जुलती *माधुरी* साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक वाद-विवाद की दृष्टि से हिन्दी का प्रमुख कार्य-स्थल बन गई। वहाँ छायावाद के पक्ष और विपक्ष, ब्रजभाषा और खड़ीबोली, रूढ़िवादी तथा उग्रवादी, हिन्दूमहासभा तथा समाजवाद के समर्थक, सब प्रकार के मत-संस्कार वाले लोगों को जगह मिली। उससे एक और क़दम आगे, मासिक पत्रिका *चाँद* ने स्त्री-उपयोगी साहित्य का पूरा ढाँचा तोड़कर स्त्रियों के सामने हर तरह की ख़बरें और मसले रखकर उनको स्वराज्य के संघर्ष में बराबरी का दर्जा दे दिया। जबकि पहले की स्त्री-उपयोगी पत्रिकाओं ने स्त्रियों के सुधार का बीड़ा उठाया था, *चाँद* का दावा समाज-मात्र को सुधारने का था, स्त्रियों के पक्ष में।

पहले विश्वयुद्ध के बाद और 1920 के जनान्दोलन के साथ-साथ उत्तर भारत के कोने-कोने तक हिन्दी अख़बार फैलने लगे। *लीडर* जैसे उदारपंथी तथा सुधारवादी अख़बारों के परे, उन वर्गों तक पहुँचने लगे जो — अगर गणेश शंकर विद्यार्थी के शब्दों को याद करें — अब तक अंग्रेज़ी तथा हिन्दी की पब्लिक स्फ़ियर के बाहर रह गए थे। हिनदी अख़बार सचेत रूप से 'सर्वसाधारण' से जुड़ने की कोशिश करने लगे, उसका प्रतिनिधित्व करने लगे। "हम जब तक साधारण समाज को न अपनावेंगे और अपने पत्रों को उसके प्रतिबिम्ब न बना सकेंगें तब तक न हमारी उन्नति ही होगी और न हम प्रकृत देश सेवा ही कर सकेंगे", *आज* (1920) के संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर (1890-1944) ने क़ौल कियाः

> आजकल हमारे अच्छे सम्पादक आदर्श की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं, अपने पत्र को समाज का प्रतिबिम्ब बनाने की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते। (...) हमारे पाठक किन-किन

> श्रेणियों के हैं, उनका रहन-सहन कैसा है, उनकी जीविका के साधन क्या हैं, उनको जीवन-संग्राम में किन-किन कठिनाइयों से क्या सामना करना पड़ता है, उनका आमोद-प्रमोद क्या है, उनकी रुचि कैसी है, वे क्या सोचते हैं और क्या चाहते हैं, इन बातों का हम संपादकों को बिलकुल पता नहीं रहता।[7]

भाषा, विषय-वस्तु, काँग्रेस व राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीति की दृष्टि से इस हृदय-परिवर्तन के कई पहलू थे। *आज*, *प्रताप*, *वर्तमान* जैसे अख़बारों में मज़दूर-किसान संबंधी ख़बरें नियमित तौर पर और बड़ी मात्रा में छपने लगीं। गणेशशंकर विद्यार्थी का *प्रताप* विशेष तौर पर किसानों का पक्ष लेकर अवध के किसान-आन्दोलन से जुड़ा रहा, यहाँ तक कि विद्यार्थीजी को खुद उसके लिए जेल जाना पड़ा। *प्रताप* और *वर्तमान* दोनों कानपुर के मज़दूरों की समस्याओं को लेकर सक्रिय रहे। साथ ही, *सरस्वती* या *माधुरी* की तटस्थ, गंभीर तथा मर्यादित भाषा की तुलना में इन अख़बारों की भाषा आम बोलचाल की मिली-जुली ज़बान के ज़्यादा नज़दीक आ गई। इन अख़बारों में जनता का पक्ष लेकर काँग्रेस की कड़ी आलोचना भी होने लगी। अगर 'काँग्रेस संयुक्त भारत की आवाज़' होने का दावा करती है, तो "अब काँग्रेस की शक्ति क़ायम रखने के लिए वे दरवाज़े खोल देने पड़ेंगे, जो अभी तक किसी कारण से बंद रखे गये हैं", विद्यार्थी जी ने अपने 11 जनवरी के 'काँग्रेस लीला' नामक संपादकीय में लिखा। काँग्रेस की एलीट नीति की आलोचना के साथ-साथ, इन अख़बारों ने संसदीय राजनीति का भी मूलभूत छिद्रान्वेषण किया। 1936 में लिखते समय आगरा के दैनिक *सैनिक* के संपादक श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने जतलाया कि

> कौंसिल माया के मन्दिर हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष में वे जनता को शासन में योग देने के लिए, शासन के सूत्र उनके प्रतिनिधियों के हाथ में देने के लिए बताई जाती हैं। परन्तु वास्तव में वे हैं सत्ताधारी तथा पूँजीवादी श्रेणियों की स्वार्थसिद्धि के लिए। चुनाव की समस्त प्रथा आदि से अन्त तक एक राक्षसी माया है।[8]

हिन्दी अख़बारों में आए इस परिवर्तन से — यानी शिक्षित मध्यवर्ग के विचारों के माध्यम से साधारण समाज के प्रतिनिधि बन जाने में — क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन दो अलग वर्गों में राष्ट्रीय आन्दोलन की ही बदौलत, कम से कम ऊपरी तौर पर एकता सी होने लगी?

1920-30 के हिन्दी अख़बारों के इस छोटे-से सर्वेक्षण से यह साबित होता है कि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में दोनों तरह के नज़रिये मिलते हैं — एकमतपसंद तथा बहुमतपसंद। एकमतपसंद पत्र एक ही क़िस्म के विचार एवं मूल्य को लेकर चलते थे। उनका काम था राष्ट्र के भवन का चित्र बनाकर उसको 'सर्वसाधारण के सामने प्रकाशित करना'।[9] ऐसे पत्रों में भाषा-साहित्य-समाज संबंधी विचार या नियम यूँ प्रकाशित होते थे जैसे वे सर्वमत से उपजे हुए हों। वाद-विवाद, असहमति या विचारों की भिन्नता को हानिकारक मानकर ये उसका मूल्य नकारते। उसको 'अभारतीय' कहा जाता। इसके विपरीत बहुमतपसंद पत्र यह मानकर चलते थे कि किसी भी विषय पर वाद-विवाद होना स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि लाभप्रद होता है। ऐसे पत्र नई आवाज़ों का स्वागत करके अपने को जनसाधारण के साँचे में ढालने की कोशिश करते थे। आज का युग किसान-युग है — ऐसा गणेश शंकर विद्यार्थी ने लिखा था। बिना सामाजिक परिवर्तन का स्वराज्य स्वराज्य ही नहीं होगा, यह इनका मानना था।

एकमतपसंद संस्थाएँ

यह सब कहने के बाद यह बात और भी विलक्षण लगती है कि इस विविधता-भरे माहौल के बावजूद जो हिन्दी संस्कार इन दशकों में विकसित हुआ, वह इतना 'शुद्ध' तथा अनुदार क्यों है? इसका जवाब बहुत हद तक हिन्दी साहित्यिक संस्थाओं की भूमिका को देखने से मिल सकता है। न केवल हिन्दी शिक्षा और पाठ्यक्रम को तय करने में, बल्कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के आन्दोलन में भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा (स्था. 1893) और हिन्दी साहित्य सम्मेलन (स्था. 1910) जैसी संस्थाओं का बहुत बड़ा हाथ रहा। यहाँ विस्तार की गुंजाइश नहीं है, पर इतना ध्यान दिलाना

कविता-कामिनी

काफ़ी होगा कि नागरी प्रचारिणी सभा जैसी संस्थाएँ 19वीं सदी की हिन्दी-उर्दू वाली लड़ाई के दौरान उभरी थीं। इनका मानना था कि हिन्दी हिन्दू समाज की भाषा तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति की उत्तराधिकारी है। सरकार के सामने उन्नति तथा वैज्ञानिक शोध की बातें करके वे संस्थाएँ बहुत हद तक सरकार के आश्रयभाजन और कृपापात्र बनने में सफल हुई थीं तथा शिक्षा विभाग की सहयोगी बनकर हिन्दी पाठ्यक्रम को बनाने का पूरा अधिकार प्राप्त कर सकीं। जैसे इस *दीवान* के अन्य लेखक ज़िक्र कर चुके हैं, वैसे तो हिन्दी के समर्थक 'कृत्रिम' तथा उच्च वर्ग तक सीमित अंग्रेज़ी शिक्षा की निन्दा करके उसके रूबरू हिन्दी को 'जन-शिक्षा' का माध्यम घोषित करते थे। पर असल में हिन्दी पाठ्यपुस्तकों की भाषा स्वयं कृत्रिम तथा उच्च वर्ग तक सीमित ही थी, जो *सरस्वती* जैसी उच्च कोटि की पत्रिकाओं में छपती थी। वैसे पाठ्यपुस्तकों की सामग्री खुद पर्याप्त मात्रा में *सरस्वती* से उद्धृत होती थी।[10] इसके अलावा पुरस्कारों के वितरक होने की हैसियत से इन संस्थाओं का प्रभाव साहित्य के क्षेत्र में भी बढ़ता गया। हर साल नागरी प्रचारिणी सभा मंगलाप्रसाद पारितोषिक (स्था. 1921) तथा देव पुरस्कार (स्था. 1927) बाँट देती, हर साल हिन्दी साहित्य सम्मेलन अपने वार्षिक सम्मेलन के सभापति चुनकर किसी साहित्यकार को परम सम्मान देता — इससे भी दोनों संस्थाएँ हिन्दी साहित्य संसार में मान्यता की मोहर-सी बन गईं। काँग्रेसी नेताओं को भी लगने लगा कि हिन्दी समाज की नाड़ी पर पकड़ के लिए इन संस्थाओं से जुड़े रहना ज़रूरी है। 1930 के दशक में काँग्रेसी नेता अक्सर साहित्य सम्मेलन

के सभापति बनने की कोशिश में रहे। यह वह दौर था जब स्वतंत्र लेखक रोज़ी-रोटी तथा ऊँचे आदर्शों के बीच तालमेल बिठाने के कठिन प्रयत्न में लगे हुए थे। उनके सामने यह कठोर सत्य प्रकट होता जा रहा था कि जो साहित्यिक तथा नैतिक पूँजी वे लेखन से अर्जित कर पाए थे, राजनीति या समाज के व्यापक क्षेत्र में उसका कोई मूल्य नहीं था। निराला की दु:खद कहानी इसी सत्य का साक्षी है।

इन्हीं एकमतपसंद संस्थाओं के प्रयत्न से शिक्षा व्यवस्था में हिन्दी घर बना सकी। और जब बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में पहला हिन्दी विभाग खुला तो उसके अध्यापक सब-के-सब नागरी प्रचारिणी सभा से आ गए, अपने संस्कार लेकर। उनके संस्कार सिर्फ़ उनके तो नहीं थे। जो हिन्दी राजनीतिज्ञ कहला सकते हैं उनके संस्कार भी, चाहे वे मदन मोहन मालवीय रहे हों या पुरुषोत्तमदास टंडन, संपूर्णानन्द या नरेन्द्र देव, यानी चाहे वे हिन्दूमहासभावादी या समाजवादी क्यों न रहे हों, काफ़ी हद तक एक जैसे थे: उन्हें भारतीय संस्कृति के समन्वयवादी धरोहर में अटल आस्था थी, प्राचीन भारत के स्वर्णिम युग से गहरा लगाव था तथा साहित्य के नैतिक गुणों में पूरा विश्वास। इस सांस्कृतिक संवेदना की राजनीति रूढ़िवादी ही रही हो, यह कहना ग़लत होगा। पुरुषोत्तमदास टंडन आज़ादी के बाद दक्षिणपंथ की ओर बढ़ते चले गए, यह सही है, मगर संपूर्णानन्द और नरेंद्र देव को लेकर यह कहना ज़्यादा सही होगा कि उनकी राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि के बीच में एक दरार-सी दिखाई पड़ती है। राजनीति के मामले में वे समाजवादी थे, मगर संस्कृति के मामले में परंपरावादी या समन्वयवादी। समन्वय का आदर्श अपने में बुरा तो नहीं कहा जा सकता है, पर उसकी आड़ में उच्च वर्गों के प्रभुत्व को चुनौती मिलने से रही। रही बात पब्लिक स्फ़ियर में भाषा की भूमिका की, सो इस दौर में चुनाव के नियमों में सुधार आने के कारण हिन्दी भाषी पब्लिक का महत्त्व बढ़ा, और संपूर्णानन्द तथा पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे मामूली पृष्ठभूमि के तथा सड़क की राजनीति से उभरनेवाले लोग विधान सभा की ड्योढ़ी पार कर गए। फिर भी अंग्रेज़ी बोलने की क्षमता उस द्विभाषिकता का मूर्त प्रतीक रहा, जो सफल भारतीय राजनीतिज्ञ का अनिवार्य लक्षण रहा है। वे जनता से हिन्दी में बात करते, राज्य सरकार और राष्ट्रीय स्तर के दूसरे राजनीतिज्ञों से अंग्रेज़ी में।

महिलाएं और किसान

इससे पहले कि यह लेख हिन्दी दुनिया में हिन्दू राष्ट्रवादी संस्कार की विजयपताका में बदल जाए, दो और पहलुओं का ज़िक्र करना ज़रूरी है जिनका 1920-30 की हिन्दी दुनिया में बहुत बड़ा महत्त्व रहा। एक तो औरतों की सक्रियता, दूसरे किसान आन्दोलन की चुनौती। इन दोनों पहलुओं पर ध्यान देने से इस सवाल पर भी विचारने का अवसर मिलेगा कि पब्लिक स्फ़ियर में शिरकत के कौन-कौन से रास्ते खुले थे और हाबरमास की थ्योरी पर भी कुछ सवाल उठाने की गुंजाइश होगी। उनकी परिकल्पना के अनुसार वाद-विवाद शिरकत का मुख्य माध्यम होता है। और तर्क-वितर्क सार्वजनिक वाद-विवाद की आधारभूत कसौटी होती है। क्या औरतों और किसानों के उदाहरण से इन सिद्धान्तों की पुष्टि होती है?

स्त्रियों के लिए सार्वजनिक दुनिया में प्रवेश से जुड़ी ख़ास मुश्किलें भी थीं। विशेष रूप से संभ्रान्त महिलाओं के लिए। न केवल पर्दा-प्रथा की वजह से उनका बाहर जाना या पुरुषों से मिलना-जुलना मना था, क़दम-क़दम पर उनकी ज़िन्दगी कुनबे, बुज़ुर्गों तथा अभिभावकों के नियंत्रण में होती थी। वास्तव में 1920 के दशक तक स्त्री के सवाल पर जितनी बहसें हिन्दी में हुई थीं वे सब महिलाओं के बीच में न होकर महज़ उनको लेकर हुई थीं। भारतीय नारी की परिभाषा क्या है, यह बहस 'नारी' तथा 'भारतीयता' के बीच स्थापित तादात्म्य से प्रभावित हो चुकी थी। भारतीय नारी सहनशील है, सेवाव्रती है, अन्नपूर्णा है, त्यागी है, सदा अपने सत का पालन करनेवाली है — यानी उसमें वे सारे गुण भरे हुए हैं जो भारत की विशिष्टता है और जिनका भौतिकवादी पश्चिमी दुनिया में अभाव रहा है। भारतीय नारी के गुण तय करने में यह बात ज़्यादा अहम थी कि वह भारतीय पुरुष, मुसलमान पुरुष तथा पश्चिमी स्त्री से अलग और कहीं ऊँचे धरातल पर है। नतीजा यह हुआ कि जिन औरतों ने लेखन या पढ़ाई के ज़रिए से, या फिर सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता से हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में क़दम रखा, उनको इन सारी अपेक्षाओं-आदर्शों से जूझना पड़ा। उनसे समझौता करना पड़ा। भारतीय नारी ऐसी है, वैसी नहीं है — उनको हर बात, हर काम में यह सुनना-समझना पड़ा। उसके बावजूद, और उत्तर भारत में स्त्री-शिक्षा के सीमित प्रचार के बावजूद,

1920 से लेकर हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में औरतें बड़े पैमाने पर सक्रिय होने लगीं। 1920 के असहयोग आन्दोलन और विशेषकर 1930 के आन्दोलन में शहरी तथा देहाती औरतों की हिस्सेदारी उल्लेखनीय है।

पहली बात यह है कि इस सक्रियता के प्रमाण हमको स्कूली शिक्षा या स्त्री समितियों के परे जाकर खोजने होंगे क्योंकि तब तक उनकी पहुँच उच्च वर्ग की थोड़ी-सी स्त्रियों तक सीमित रही थी। हिन्दी पत्रिकाओं पर ध्यान देना होगा तथा रोज़मर्रा के कार्यों पर, जैसे चर्खा चलाना, स्वदेशी माल ख़रीदना, और आगे चलकर धरना देना तथा जुलूस निकालना। हाबरमास की पब्लिक स्फ़ियर की परिकल्पना इस अर्थ में उपयोगी है, क्योंकि उसमें लिखना-पढ़ना व ग़ैर-राजनीतिक काम भी राजनीति के व्यापक अर्थ का हिस्सा माने जाते हैं।

आर्य समाज की शिक्षा-प्राप्त स्त्रियों के उदाहरण से स्पष्ट है कि जिन औरतों को हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में कुछ-कुछ प्रवेश की अनुमति मिली, वे उपलब्ध आलोचनात्मक साधनों का प्रयोग अपने-अपने सवाल उठाने के लिए करने लगीं। समाज से मुख़ातिब होकर वे तर्क-वितर्क के सहारे यह पूछने लगीं कि आजकल जो हमारी दयनीय स्थिति है, वह किन परिस्थितियों की देन हैं? समाज के नियम तथा हमारी भूमिका को किसने निर्धारित किया है? उन स्त्रियों का जवाब स्पष्ट था। *मनुस्मृति* के उस श्लोक के संबंध में, जिसके अनुसार स्त्री को हमेशा किसी और के सुपुर्द रहना चाहिये, एक आर्य-समाज शिक्षित महिला ने यूँ लिखा:

> इस श्लोक से स्त्री की कोमलता का तथा उसके मूल्य का आभास होता है। मूल्यवान वस्तु को ही ख़ूब सुरक्षित, गोप्य रखना पड़ता है परन्तु बड़े-बड़े विद्वानों ने इस वास्तविक अर्थ को न समझकर उसकी पवित्रता का अपमान किया, उसके मूल्य को पैरों से ठुकराया, उसको अविश्वसनीय समझा, उसकी स्वतंत्रता छीन ली, उसे पुरुषों के बराबर अधिकारों के उपयुक्त न समझा। उसके आत्मिक व मानसिक विकास के विशाल द्वार पर ताला ठोंक दिया। उपनयन संस्कार से वंचित रखकर सदा के लिए अविद्या के अनुकूप में ढकेल दिया। 'स्त्री शूद्रो नाधीयताम् इति श्रुतिः' की मन-गढ़न्त रचना वाले वेदों के नाम से भी भ्रम उत्पन्न करने लगे...।[11]

यह भी ध्यान देने योग्य है कि औरतों ने केवल तर्क-वितर्क का सहारा नहीं लिया। पत्रिकाओं के चिट्ठी-पत्री के स्तंभ या कथा-कहानियों द्वारा वे पाठकों को अपील करती हुई नज़र आती हैं। इन चिट्ठियों या आध-कल्पित आध-असली कहानियों (जैसे 'मैं पतित कैसे हुई') की विशेषता यह थी कि उनमें बोलनेवाली 'मैं', पाठक को सीधे संबोधित करके उससे सहानुभूति या एकात्म्य मांगती थी। 'स्त्रियों के सवाल' से संबंधित ढेरों लेखों से ज़्यादा 'आप मेरी जगह होतीं तो क्या करतीं?' जैसे सवाल सशक्त और कारगर साबित हुए। एक ऐसी चिट्ठी का नमूना देखिए:

> संपादक जी,
> मैं गुजराती वणिक हूँ। मेरा सम्बन्ध ग्यारह वर्ष की उम्र में कर दिया गया। मेरे ससुराल वालों का वंश नीचा और कलुषित है। पर उन्होंने चालाकी से विवाह कर लिया। माता-पिता के कुसंस्कार से मेरे पति अशिक्षित नहीं, उद्दण्ड और निरुद्योगी भी हैं। चालचलन भी ख़राब है। मुझे धार्मिक व सदाचारी जीवन अच्छा लगता है। इससे मेरा उनके साथ वैमनस्य ही रहता है। (...) बारह बरस में तीन सन्तानें भी हुईं पर दुर्दैव से एक भी जीवित नहीं रही। इस समय भी मैं माता होने वाली हूँ। इस दशा में भी मुझे इतना मारा गया कि मैं बीमार हो गई। यह दशा देख कर मेरे बड़े भाई मुझे अपने घर लिवा लाये हैं। उस बेचारे पर भी नीच आक्षेप किये जाते हैं। मैं पूछती हूँ कि एक अबला पर इतना अत्याचार क्यों? मेरे पति को मामूली पढ़ना-लिखना भी नहीं आता। तो भी सिर्फ़ वह पति हैं, इसलिए मुझे उनकी हर एक बात माननी चाहिये और मैं अगर कोई नीति की बात भी कहूँ तो उनका अपमान होगा, यह कहाँ का न्याय है? मैं सच्ची बात किससे कहूँ? (...) मेरे जीवन-निर्वाह का कोई साधन नहीं। हिन्दू-समाज और हिन्दू लॉ भी मेरी कुछ सहायता नहीं कर सकते। (...) आर्य संस्कृति और

> वैदिक विवाह-प्रणाली संसार भर में प्रसिद्ध है और पति-सेवा स्त्री का परम धर्म और कर्त्तव्य बतलाया जाता है पर कब? जब पति को अपनी सम्मति से वरण किया हो और वह गुणवान हो। पति के अत्याचारों के कारण मैं कोई समाज सेवा का काम नहीं कर सकती।...
>
> - एक दुःखिनी[12]

ऐसी चिट्ठियों की माँग थी कि भारतीय समाज और हिन्दू परिवार स्त्रियों का शोषण न करके उनको इंसानी दर्जा दे। अब तक स्त्री-सुधार का मतलब रहा था स्त्रियों का सुधार। इन चिट्ठियों और *चाँद* जैसी पत्रिकाओं के प्रयत्न से उसका मतलब बदल गया — अब उसका अर्थ स्त्रियों के ज़रिये और उनके हित में समाज-सुधार हो गया। औरतों की आवाज़ों का उभार कई बार सुधार की दिशा बदलते हुए भी नज़र आता है। विधवाओं के सवाल पर पुरुष सुधारकों ने विधवा-विवाह पर ही अधिक ज़ोर दिया था और विधवाओं के रिश्तेदारों से आग्रह किया था कि वे दया करके उनके साथ अत्याचार न करें। *चाँद* में प्रकाशित चिट्ठियों और वक्तव्यों का आग्रह यह था कि विधवा को अपनी संपत्ति पर तथा कुटुम्ब में सम्मान से रहने का अधिकार मिलना चाहिए। इसके साथ उन्होंने रोज़गार का सवाल भी उठाया, रहने के लिए सुरक्षित जगह की आवश्यकता पर ज़ोर दिया तथा इनको स्त्री-संबंधी दूसरी समस्याओं से जोड़ दिया, जैसे बाल-विवाह, दहेज-प्रथा और अनमेल-विवाह। लिखनेवाली औरतों का मानना था कि ये सब समस्याएँ एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं और स्त्री को कमज़ोर बनातीं हैं। यह बात भी ध्यान देने लायक़ है कि परिवर्तन की सिफ़ारिश अक्सर सबसे पहले लाचार स्त्रियों के लिए की जाती थी, जैसे विधवाओं के लिए। मगर आशय यह था कि जो परिवर्तन विधवाओं के लिए वांछनीय है वह बाक़ी औरतों के लिए भी मान्य तथा उचित होना चाहिए।

जो औरतें सार्वजनिक दुनिया में सक्रिय होने लगीं उनकी कार्य-परिधि सीमित तो थी ही, उनको भारतीय नारी से अपेक्षित आचार-विचार के अनुसार ही चलना पड़ता था। सबकी नज़रें उन पर गड़ी हुई थीं। स्कूल में पढ़ाने वाली औरतों को पहनावे, आचार-विचार, रहन-सहन, उठने-बैठने में कड़ा अनुशासन रखना पड़ता था। उनकी हर ग़लती सबूत बनकर कि स्त्रियों को बाहर नहीं जाना चाहिए — दूसरी औरतों का रास्ता बन्द कर सकती थी। *चाँद* या दूसरे स्रोतों से यह पता चलता है कि उस दौर में सेवा एक ऐसा झंडा बना जिसके तले बहुत सारी औरतें घर के बाहर बहुत-कुछ करने लगीं। देश-सेवा या समाज-सेवा के नाम पर औरतें स्कूल चलाने लगीं, सार्वजनिक सभाओं में भी भाषण देने लगीं। वे चर्खा चलातीं, लिखतीं, पढ़ती-पढ़ातीं, खान-पान तथा पहनावे में परिवर्तन लातीं, जुलूस में भाग

लेतीं, यहाँ तक कि परिवार को छोड़कर जेल भी चली जातीं। सेवा एक ऐसा मूल्यवान रचनात्मक गुण बन गया जो भारतीय नारी की निःस्वार्थता का साक्षी तो था ही, पर जिसके नाम घर के बाहर के बहुत सारे काम स्त्रियोचित ठहराए जा सकते थे। कुछ उसी तरह का परिवर्तन मर्यादा के मूलभूत स्त्रियोचित विधान को लेकर भी हुआ — वह लक्ष्मणरेखा जिसका तनिक उल्लंघन करके कोई भी स्त्री चाहे वह सीता ही क्यों न हो, अपने पूरे कुटुंब बल्कि संपूर्ण समाज का सत्यानाश कर सकती थी। स्त्रियों के लेख-कहानियों में उस लक्ष्मणरेखा की चर्चा कुछ यूँ होने लगी कि वह दूसरों से या समाज से निर्धारित न होकर आत्मनिर्धारित होनी चाहिए। स्त्रियाँ ही उन्हें खींचेंगी, पालन करेंगी और तय करेंगी कि उसकी सीमा-रेखा क्या है। मर्यादा बाहरी रूप-रंग की बात नहीं, आंतरिक आत्मानुशासन एवं आत्मबल पर आधारित होती है, यह उनका मानना था। जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों की नायिकाओं की आश्चर्यजनक लोकप्रियता का कारण मुझे कुछ इसमें दिखाई देता है कि साधारण घरेलू औरतें होते हुए भी उनमें आत्मविश्वास और आत्मबल कूट-कूटकर भरा होता है। अपनी मर्यादा की मालकिन वे खुद हैं।

औरतों की मिसाल से यह स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक दुनिया में प्रवेश पाने का मतलब बराबरी की सदस्यता पाना नहीं था। राजनीतिक पार्टियों के नेतृत्व में स्त्रियों की भागीदारी नाममात्र ही रही — वह भी अक्सर किसी की बहन-पत्नी-बेटी होने के नाते। मगर यह निर्विवाद है कि उस दौर में औरतों को जो हासिल था वह आवाज़ उठाने से कहीं ज़्यादा था। जहाँ अभी तक एक ही पीढ़ी पहले तक बाहर घूमना और काम करना लगभग असंभव-सा था, यह सब बहुत हद तक राष्ट्रीय आंदोलन की वजह से संभव हो गया। बल्कि यह कहना ग़लत न होगा कि बाहर या हाशिए पर खड़े हुए लोगों या वर्गों के लिए सार्वजनिक दुनिया में प्रवेश पाने के लिए वाद-विवाद से अधिक दूसरी शक्तियाँ ज़रूरी होती हैं। महज़ पत्र-पत्रिकाओं में सवाल उठाने से काम नहीं चलता।

ये सारी बातें किसानों के विषय में भी लागू होती हैं। हिन्दी साहित्य के विद्वान वीरभारत तलवार ने यह दिखाया है कि उत्तर प्रदेश जैसे खेती-प्रधान इलाक़े में 1920 के पहले किसानों का सवाल लगभग नदारद है। 1907 की *सम्पत्तिशास्त्र* नामक किताब में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक भाग खेती की अर्थव्यवस्था को समर्पित किया था, बस। वैसे दरिद्र किसान हिन्दी की दुनिया में सबसे पहले काव्य में सहानुभूति के पात्र के रूप में प्रगट हुए, जैसे कि वीरभारत तलवार ने दिखाया है। उन सब कविताओं में किसान कर्त्ता के रूप में नहीं, शहरी मध्यवर्ग की सहानुभूति के कृपापात्र दीखते हैं। वे रोकर पुकारते हैं या मौन होकर रोते ही रोते हैं। कवि उनके लिए, उनकी जगह सवाल पूछता है:

कौन सुनेगा दीन जनों की राम कहानी।
दीनबन्धु भी भूल गए वह बात पुरानी।।
रहे बहुत दिन मौन सही सबकी मनमानी।
आँखों से बह गया धैर्य हो-होकर पानी।।
कल न सही तो काल ही किसी तरह कट जाएगा।
रोएँगे कुछ देर तो कुछ तो दुःख घट जाएगा।।[13]

वीरभारत तलवार ने यह भी दिखाया है कि पहले-पहल 1910 और 1920 के बीच में देहाती हालात के कुछ विश्लेषण हिन्दी पत्रिकाओं में छपने लगे, और इनमें से कुछ लेख किसानों की दुर्दशा पर भी आए।[14] चंपारण में गाँधीजी के हस्तक्षेप के बाद जैसे एक नया दौर शुरु हो गया। रूसी इंक़िलाब ने वह काम पूरा किया। नतीजा यह हुआ कि 1919-1922 तक अवध के किसान आन्दोलन के समाचार कुछ हिन्दी अख़बारों में बराबर छपते रहे। तभी से कुछ हिन्दी अख़बार तथा कुछ काँग्रेसी कार्यकर्त्ता तेज़ी से समाजवाद की ओर बढ़ने लगे। वे मज़दूर-किसानों के संगठन बनाने में लग गए तथा 1930 के दशक में विकसित होने वाले काँग्रेस समाजवादी पार्टी तथा बिहार किसान सभा में सक्रिय रहे। यहाँ इस पर विस्तार से लिखने की न तो गुंजाइश, न ही ज़रूरत है। इतना कहना काफ़ी होगा कि हिन्दी की दुनिया में किसान आन्दोलन को लेकर तीन तरह की प्रतिक्रियाएँ हुईं। एक तरफ़ तो वे लोग थे जिनका मानना था कि किसान आन्दोलन आने वाले कलियुग का लक्षण है तथा उससे देहाती समाज का सामंजस्यपूर्ण

संतुलन नष्ट होने वाला है। इनमें से रामचन्द्र शुक्ल भी थे, जिनके मुताबिक़, "अंग्रेज़ों से पहले के भारतीय समाज में मुख्यतः दो विभाजन थे, व्यापारिक और अव्यापारिक। अव्यापारिक वर्गों में कृषि और राजकीय सेवाओं से जुड़े लोग थे। हर वर्ग या समुदाय के काम और अधिकार के अपने-अपने क्षेत्र थे, जिनसे वे संतुष्ट थे"।[15] शुक्ल जी के शब्दों में, "इस प्रकार समाज में पूरा सन्तुलन रखा गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रूप में युरोप के घृणित व्यापारवाद ने भारत में क़दम रखा और समाज के स्तरीय विभाजन के आधार पर जो सामंजस्य इतने दिनों से चला आ रहा था उसे अस्तव्यस्त कर दिया"। (वही) अब असहयोग आंदोलन, जिसमें शहरी व्यापारिक हित प्रबल थे, किसानों को भड़काकर तथा कृषक वर्ग में भेदभाव बढ़ाकर कंपनी का काम पूरा करने पर तुला हुआ था। शुक्ल जी के 'कृषक वर्ग' के अंतर्गत ज़मींदार-रैयत-खेतमज़दूर सभी लोग आते थे, जैसे कि सबके हित एक-जैसे रहे हों।

किसान आंदोलन को लेकर दूसरा दृष्टिकोण उन लोगों का था जिनका मानना था कि किसान-मज़दूरों की शिकायतें-माँगें सही तो हैं मगर उनका हल केवल ज़मींदार-किसान के बीच के समझौते से ही हो सकता है। इतिहासकार ज्ञान पाण्डेय के अनुसार, इस दृष्टिकोण का नतीजा यह हुआ कि किसान आन्दोलन राजनीतिक न होकर केवल आर्थिक-सामाजिक आन्दोलन ही समझा गया, जिसका हल राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद तक स्थगित किया गया। तीसरा दृष्टिकोण स्वामी सहजानन्द सरस्वती (1889-1950) जैसे लोगों का था जिनका मानना था कि किसानों की आर्थिक माँगें अपने आप में राजनीतिक हैं। और बिना आर्थिक-सामाजिक इंसाफ़ के स्वराज्य भी सच्चे अर्थ में स्वराज्य नहीं होगा।

हमारे लिए ये बातें ध्यान देने लायक़ हैं कि

(1) किसानों के संघर्ष से संबद्ध कार्यकर्त्ता और बुद्धिजीवी जो कभी-कभी फ़ुलटाइमर भी बन गए, ज़्यादातर हिन्दी पृष्ठभूमि के लोग रहे थे — जैसे वैद्यनाथ मिश्र नागार्जुन या राहुल सांकृत्यायन।

(2) उनकी इसी संबद्धता की वजह से वे यह भी मानने लगे कि किसान-मज़दूरों को पब्लिक स्फ़ियर में बराबरी का दर्जा मिलना चाहिए। वे उस माई-बाप वाली समझ का भी विरोध करने लगे जो उत्तर भारतीय समाज एवं काँग्रेस में काफ़ी व्याप्त थी। स्वामी सहजानन्द सरस्वती की आत्मकथा पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनको यह बोध धीरे-धीरे हुआ कि समझौतावाद का मतलब है किसानों को अपने राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखना।

(3) स्वामी सहजानन्द के नेतृत्व में बिहार की किसान-सभा किसानों की ख़ुद की पब्लिक स्फ़ियर बनाने में काफ़ी हद तक सफल हो गई। जुलूसों, आम सभाओं और स्थानीय संघर्षों में अभिव्यक्त इस व्यापक राजनीति का मूल क्षेत्र ग़ैर-संसदीय ही था। तर्क-वितर्क के अलावा, स्वामी सहजानन्द ने कुछ और तरीक़े भी अख़्तियार किए। जैसे, उनको यह लगने लगा कि किसानों की ताक़त उनकी संख्या में है, तथा उनके बल का प्रदर्शन करने के लिए यह ज़रूरी है कि वे सार्वजनिक जगहों पर बड़ी संख्या में इकट्ठे होकर अपने अधिकारों की सस्वर माँग करें। इसलिए उन्होंने किसान रैलियों का विधान चलाया। कुल मिलाकर संसद की राजनीति के द्वार किसान सभा के लिए बंद ही रहे — बिहार काँग्रेस को यह मंज़ूर नहीं हुआ कि उसके नेता चुनाव के लिए खड़े हों, यहाँ तक कि 1937 की काँग्रेस सरकार स्थानीय किसान आन्दोलन को दबाने में पीछे नहीं रही। पटना के किसी विशाल प्रदर्शन के बाद बिहार काँग्रेस सरकार के मुख्यमंत्री राजेन्द्र प्रसाद ने स्वामी सहजानन्द से कहा कि "स्वामी जी, इस हंगामे से सजग रहिये"। अपनी आत्मकथा में स्वामी सहजानन्द इसके बारे में यूँ लिखते हैं:

> मैं चुप सुनता रहा। मगर भीतर ही भीतर सोचा कि एक दिन इसी किसान समूह को मास (mass) कहते थे, यही लोग। आज वही माब (mob) हो गया? ये किसान समूह पहले भी 'माब' ही थे। बीच में प्रयोजनवश 'मास' बने। फिर वही 'माब' के 'माब' रह गये। क्योंकि शायद अब इनकी ज़रूरत इन नेताओं को नहीं और जिनकी ज़रूरत न हो उन्हें इसी नाम से स्थित स्वार्थ वाले सदा से पुकारते ही चले आते हैं। सरकार भी इन्हें सदा 'माब' कहती है और अब हमारे मंत्री लोग भी सरकार बने हैं।[16]

औरतों तथा किसानों का उदाहरण देकर मैंने यह दिखाने की कोशिश की है कि जब उपेक्षित समूह या वर्गों ने पब्लिसिटी अख़्तियार की तथा सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय होने की कोशिश की तो कई तरह की दिक़्क़तें, तनाव, प्रतिक्रियाएँ आदि पैदा हुईं, पर साथ ही कई अप्रत्याशित नतीजे भी निकले। जब इन लोगों ने देखा कि नेता संपूर्ण जनता के लिए जिस 'हम' का इस्तेमाल करते हैं वह उनके पक्ष को ठीक से नहीं पेश कर रहा है तो फिर उन्होंने वही सवाल अपने ढंग से उठाया। सार्वजनिक क्षेत्र में उनके पहले क़दम ग़ैर-संसदीय राजनीति में ही पड़े। कुल मिलाकर संसद की राजनीति के द्वार उनके लिए हमेशा बंद ही रहे। उनके प्रति हिन्दी मध्यवर्ग का रवैया प्रोत्साहन से लेकर असमंजस तथा शंका तक का रहा। सामाजिक न्याय के अपने अभीष्ट एवं संघर्ष के मौजूदा यथार्थ के बावजूद कई लोगों के लिए सामाजिक समन्वय के अपने आदर्श को छोड़ देना असंभव-सा रहा। आचार्य नरेन्द्र देव की तरह कई समाजवादी विचारक वर्ग-संघर्ष के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के संघर्षरहित समन्वय में भी विश्वास करते रहे।

इन सारी प्रवृत्तियों को समझने के लिए पब्लिक स्फ़ियर की धारणा हमारे लिए इसलिए उपयोगी हो जाती है क्योंकि उसमें परस्पर-विरोधी तथा अपने अंतर्विरोधी मतों के स्वरित होने की पर्याप्त गुंजाइश होने के अलावा यह दिखाना संभव हो जाता है कि फ़लाने विचार-संस्कार का अंत क्या हुआ, क्या वह कहीं कार्यान्वित भी हुआ या नहीं, उसको किसने कब अख़्तियार किया, वग़ैरह-वग़ैरह।

हिन्दी की दुनिया जो 1920 में बिखरी तथा विविधता से भरी हुई दीखती है वह 1940 तक आते-आते काफ़ी कुछ व्यवस्थित हो चुकी थी। उसकी रूपरेखा आज की हिन्दी की दुनिया से ज़्यादा भिन्न नहीं लगती। खड़ी बोली का मानक रूप आम आदान-प्रदान, साहित्य, शिक्षा तथा राजनीति की भाषा के रूप में स्थापित हो चुका था। यह उत्तर भारत के मंझले एलीट की तथा उभरने वाले निम्न-मध्यवर्ग तथा शहरी श्रमिक-वर्ग की भी भाषा थी। वह भारत की राष्ट्रभाषा नहीं बन पाई, यह अलग बात है। 1920 और 1940 के बीच के दौर में हिन्दी की दुनिया की जो तस्वीर हमारे सामने आती है वह दो अलग-अलग, परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों की है। एक तरफ़ तो हिन्दी की दुनिया का बहुत बड़ा विस्तार हुआ तथा उसमें बहुत सारे नए स्वर सुनाई देने लगे। दूसरी तरफ़, रूढ़िवादी संस्कार वालों की मोर्चाबंदी हुई जो अपनी संस्थागत सत्ता की वजह से दूसरे आलोचनात्मक तथा इंक़िलाबी स्वरों को किनारे करने में सफल रही।

इस रूढ़िवादी हिन्दी संस्कार की लंबी सफलता का एक मुख्य कारण उसकी शिक्षा पर, यानी ज्ञान के व्यवस्थित प्रसारण पर, पकड़ रहा है। यह देखकर हैरानी होती है कि हिन्दी साहित्य का पाठ्यक्रम, या हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक दृष्टि 1930 से लेकर आज तक कितनी कम बदली है। अब जाकर दलित लेखक-आलोचक उस पर प्रश्न चिन्ह लगाने लगे हैं — और प्रतिक्रियाएँ तो देखिए!

हिन्दी संस्कार की सफलता का दूसरा कारण शायद यह भी रहा है कि संकीर्ण होने के बावजूद वह निचले तबक़े के बहुत सारे लोगों के लिए समाज में आगे बढ़ने का माध्यम भी रहा है। आज़ादी के बाद वाले दशकों में शुद्ध हिन्दी की जानकारी सरकारी-ग़ैरसरकारी नौकरी पाने के लिए ज़रूरी हो गई। वही बात सार्वजनिक जीवन में हिस्सेदारी पर भी लागू होती है। फ़र्क़ इतना ही रहा कि 1920-30 के दशकों में जिन नए वर्गों ने हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में हिस्सा लेना चाहा उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से हिन्दी के संस्कार को बदलने की कोशिश की। बाद में नए वर्गों का विरोध राजनीति तक ही सीमित रह गया तथा वे सत्ताधारी ताक़तों का विरोध उसी शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में करते गए जो अपने आप सांस्कृतिक विविधता को नकारने वाली है। अंग्रेज़ी के प्रभुत्व से दुखी हिन्दी ख़ुद अपने ढंग का प्रभुत्व चलाती रही है। हिन्दी भी, हिन्दी मध्यवर्ग की तरह, सांस्कृतिक दृष्टि से आत्मतुष्ट तथा एकमतपसंद सब-एलीट की भाषा बन गई है।[17]

संदर्भ

1. जवाहरलाल नेहरू, *मेरी आत्मकथा* (अंग्रेज़ी में), 1998 (1936) पृ. 48.
2. पुरुषोत्तम अग्रवाल, '1857 और हिन्दी नवजागरण', *हिन्दी नई चाल में ढली एक पुनर्विचार,* (संपा.) पु. अग्रवाल, संजय कुमार, नई दिल्ली, 2000. वसुधा डालमिया, *द नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिन्दू ट्रैडिशनः भारतेन्दु हरिशचन्द्र ऐंड बनारस,* नई दिल्ली, 1997.
3. वीरभारत तलवार, *किसान, राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्दः 1918-1922,* नई दिल्ली, 1990.
4. मदन मोहन मालवीय, 'भारतवासी और देश-भक्ति', *अभ्युदय,* भाद्रपद-शुक्ल 14, सं 1964 (1907), *मालवीयजी के लेख,* दिल्ली, 1962, पृ. 105-6.
5. पुरुषोत्तमदास टंडन द्वारा पारित प्रस्ताव, *सम्मेलन पत्रिका,* भाग 7, अंक 8, पृ. 227 पर उद्धृत.
6. गणेश शंकर विद्यार्थी, संपादकीय, 'काँग्रेस के आगामी अधिवेशन पर कुछ विचार', *प्रताप,* 3 जुलाई, 1916, *क्रान्ति का उद्घोष,* जिल्द 1, कानपुर 1978, पृ. 240-1.
7. बाबूराव विष्णु पराड़कर, सम्पादक सम्मेलन के सभापति का अभिभाषण, 16वाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, वृन्दावन, 1924, *सम्मेलन पत्रिका,* भाग 13, अंक 4-5, पृ. 233-5.
8. श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, 'कौंसिल द्वारा स्वराज्य', *विशाल भारत,* बैसाख 1996 (अप्रैल, 1936), पृ. 450.
9. मदन मोहन मालवीय, 'राष्ट्र का निर्माण', *अभ्युदय,* मार्गशीष-कृष्ण 9, सं. 1964 (1907), *मालवीय जी के लेख,* दिल्ली, 1962, पृ. 126.
10. देखिए *हिन्दी नई चाल में ढली,* उपरोक्त.
11. श्रीमती सुशीलादेवी विद्यालंकृता, 'आर्य संस्कृति और स्त्रियाँ', *चाँद,* वर्ष 14, खण्ड 2, संख्या 4, सितंबर 1937, पृ. 162.
12. *चाँद,* 'चिट्ठी-पत्री', वर्ष 14, खण्ड 2, संख्या 1, मई 1937, पृ. 85-6.
13. गयाप्रसाद शुक्ल सनेही 'त्रिशूल', *सरस्वती,* अप्रैल 1919.
14. देखिए वीरभारत तलवार, *किसान, राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्दः 1918-1922.*
15. वीरभारत तलवार, *राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य कुछ प्रसंगः कुछ प्रवृत्तियाँ,* नई दिल्ली, 1993, पृ. 27.
16. स्वामी सहजानन्द सरस्वती, *मेरा जीवन संघर्ष,* नई दिल्ली 1987, पृ. 299.
17. आलोक राय, *हिन्दी नैशनलिज़्म,* ट्रैक्ट्स फ़ॉर द टाइम्स, 13, नई दिल्ली, 2000.